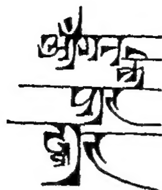


[१९५९-'६१ की कविताएँ]



भारतीय
ज्ञानपीठ
प्रकाशन



आँगन के पार द्वार

(कविता)

'अज्ञेय'

©

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग दिल्ली ६

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय

दुर्गाकुण्ड मार्ग वाराणसी ५

० ० ० ०

AANGAN KE PAR DWAR

(Poems)

AJNEYA

Published by BHARATIYA JNANPITH

3620/21 Netajee Subhash Marg Delhi-6

(*Phone* 272582 *Gram* JNANPITH' Delhi)

Price

Rs 5.00

मूल्य : पाँच रुपये

अनुक्रम

अन्त सलिला

सरस्वती-पुत्र

मन्दिर के भीतर वे सब धुले-पुँछे उघड़े अवलिप्त,
खुले गले से
मुखर स्वरों में
अति प्रगल्भ
गाते जाते थे राम नाम।
भीतर सब गूँगे, बहरे, अर्थहीन जल्पक,
निर्बोध, अयाने, नाटे,
पर बाहर जितने बच्चे उतने ही बड़बोले।

बाहर वह
खोया-पाया, मैला उजला
दिन दिन होता जाता वयस्क,
दिन-दिन धुँधलाती आँखों से
सुस्पष्ट देखता जाता था,
पहचान रहा था रूप,
पा रहा वाणी और बूझता शब्द,
पर दिन दिन अधिकाधिक हकलाता था
दिन दिन पर उस की घिग्घी बँधती जाती थी।

बना दे, चितेरे

बना दे, चितेरे,
मेरे लिए एक चित्र बना दे।

पहले सागर आँक ·
विस्तीर्ण प्रगाढ नीला,
ऊपर हलचल से भरा,
पवन के थपेडो से आहत,
शत शत तरगो से उद्वेलित,
फेनोर्मियो से टूटा हुआ, किन्तु प्रत्येक टूटने मे
अपार शोभा लिये हुए,
चचल, उत्सृष्ट,
—जैसे जीवन।
हा, पहले सागर आक
नीचे अगाध, अथाह,
असख्य दबावो, तनावो, खीचो और मरोडो को
अपनी द्रव एकरूपता मे समेटे हुए,
असख्य गतियो और प्रवाहो का
अपने अखण्ड स्थैर्य मे समाहित किये हुए,
स्वायत्त,
अचचल,
—जैसे जीवन
सागर आक कर फिर आक एक उछली हुई मछली
ऊपर अधर मे
जहा ऊपर भी अगाध नीलिमा है
तरगोर्मियां हैं, हलचल और टूटन है,
द्रव है, दबाव है,

और उसे घेरे हुए वह अविकल सूक्ष्मता है
जिस में सब आन्दोलन स्थिर और समाहित होते हैं,
ऊपर अंबर में
हवा का एक बुलबुला भर पीने को
उछली हुई मछली
जिस की मरोड़ी हुई देह वल्ली में
उस की जिजीविषा की उत्कट आतुरता मुखर है।
जैसे तड़िल्लता में दो बादलों के बीच के खिंचाव सब
कौंध जाते हैं—
वज्र अनजाने, अप्रसूत, असन्धीत सब
गल जाते हैं।

उस प्राणों का एक बुलबुला भर पी लेने को—
उस अनन्त नीलिमा पर छाये रहते ही
जिस में वह जनमी है, जियी है, पली है, जियेगी,
उस दूसरी अनन्त प्रगाढ़ नीलिमा की ओर
विद्युल्लता की कौंध की तरह
अपनी इयत्ता की सारी आकुल तड़प के साथ उछली हुई
एक अकेली मछली।

बना दे, चितेरे,
यह चित्र मेरे लिए आँक दे।
मिट्टी की बनी, पानी से सिंची, प्राणाकाश की प्यासी
उस अन्तहीन उदीषा को
तू अन्तहीन काल के लिए फलक पर टाँक दे—
क्योंकि यह माँग मेरी, मेरी, मेरी है कि प्राणों के
एक जिस बुलबुले की ओर मैं हुआ हूँ उदग्र, वह
अन्तहीन काल तक मुझे खींचता रहे
मैं उदग्र ही बना रहूँ कि
—जाने कब—
वह मुझे सोख ले।

भीतर जागा दाता

मतियाया
सागर लहराया।
तरंग की पखयुक्त वीणा पर
पवन ने भर उमंग से गाया।
फेन-झालर दार मखमली चादर पर मचलती
किरण अप्सराएँ भारहीन पैरों से थिरकीं—
जल पर आलते की छाप छोड़ पल-पल बदलती।
दूर धुँधला किनारा
झूम झूम आया, डगमगाया किया।
मेरे भीतर जागा
दाता
बोला
लो, यह सागर मैं ने तुम्हें दिया

हरियाली बिछ गयी तराई पर,
घाटी की पगडण्डी
लजायी और ओट हुई—
पर चंचला रह न सकी, फिर उझकी और झाँक गयी।
छरहरे पेड़ की नयी रँगीली फुनगी
आकाश के भाल पर जय तिलक आँक गयी।
गेहूँ की हरी बालियों में से
कभी राई की उजली कभी सरसों की पीली फूल-ज्योत्स्ना
दिप गयी,
कभी लाली पोस्ते की सहसा चौंका गयी—
कभी लघु नीलिमा तीसी की चमकी और छिप गयी।

मेरे भीतर फिर जागा
दाता
और मै ने फिर नीरव सकल्प किया
लो, यह हरी भरी धरती—यह सवत्सा कामधेनु—मै ने तुम्हे दी
आकाश भी तुम्हे दिया
यह बौर, यह अकुर, ये रग, ये फूल, ये कोपलें,
ये दूधिया कनी से भरी बालिया,
ये मैं ने तुम्हे दी
झाँकी-धाँकी रेखा यह,
मेडो पर छाग-छौने ये किलोलते,
यह तलैया, गलियारा यह,
सारसो के जोडे, मौन खडे पर तोलते—
यह रूप जो केवल मैं ने देखा,
यह अनुभव अद्वितीय, जो केवल मैं ने जिया,
सब तुम्हे दिया।

एक स्मृति से मन पूत हो आया।
एक श्रद्धा से आहूत प्राणो ने गाया।
एक प्यार का ज्वार दुर्निवार बढ आया।
मै डूबा नही, उमडा-उतराया,
फिर भीतर
दाता खिल आया।
हँसा, हँस कर तुम्हे बुलाया।
लो, यह स्मृति, यह श्रद्धा, यह हँसी,
यह आहूत, स्पर्श-पूत भाव
यह मैं, यह तुम, यह खिलना,
यह ज्वार, यह प्लवन,
यह प्यार यह अडूब उमडना—
सब तुम्हें दिया।
सब
तुम्हे
दिया।

अन्धकार मे दीप

अन्धकार था
सब कुछ जाना
पहचाना था
छुआ कभी न गया हो, फिर भी
सब कुछ की संयति थी,
संहति थी,
स्वीकृति थी ।

दिया जलाया
अर्थहीन आकारो की यह
अर्थहीनतर भीड—
निरर्थकता का संकुल—
निर्जल पारावार न क्षारो का
यह उमडा आया ।

कहा गया वह
जिस ने सब-कुछ को
ऋत के ढाँचे मे था बैठाया ?

पास और दूर

जो पास रहे
वे ही तो सब से दूर रहे
प्यार से बार बार
जिन सब ने उठ उठ हाथ और झुक-झुक कर पैर गहे,
वे हो दयालु, वत्सल, स्नेही तो
सब से क्रूर रहे।

जो चले गये
ठुकरा कर हड्डो पसली तोड गये।
पर जो मिट्टी
उन के पग रोप भरे खूँदते रहे,
फिर अवहेला से रौद गये,
उस को वे ही अनजाने मे नयी खाद दे गोड गये
उस मे वे ही एक अनोखा अकुर रोप गये।
—जो चले गये,
जो छोड गये,
जो जडें काट, मिट्टी उपाट, चुन चुन कर डाल मरोड गये
वे नहर खोद कर अनायास
सागर से सागर जोड गये।
मिटा गये अस्तित्व,
किन्तु वे
जीवन मुझ को सौप गये।

पहचान

तुम
वही थी
किन्तु ढलती धूप का कुछ खेल था—
ढलती उमर के दाग उस ने धो दिये थे।
भूल थी
पर
बन गयी पहचान—
मैं भी स्मरण से
नहा आया।

झील का किनारा

झील का निर्जन किनारा
और वह सहसा छाये सन्नाटे का
एक क्षण हमारा।
वैसा सूर्यास्त फिर नहीं दिखा
वैसी क्षितिज पर सहमी सी बिजली
वैसी कोई उत्ताल लहर और नहीं आयी
न वैसी मदिर बयार कभी चली।

वैसी कोई शक्ति अकल्पित और अयाचित
फिर हम पर नहीं छायी।
वैसा कुछ और छन्दों काल ने
हमारे मटे हुए लिलारों पर नहीं लिखा।

वैसा अभिसचित, अभिमन्त्रित,
सघनतम सगोपन कल्पान्त
दूसरा हम ने नहीं जिया।
वैसी शीतल अनल शिखा
न फिर जली, न चिर-काल पली,
न हम से सँभली।

या कि अपने को उतना वैसा
हमीं ने दुबारा फिर नहीं दिया?

अन्तरंग चेहरा

अरे ये उपस्थित
घेरते, घूरते, टेरते
लोग—लोग—लोग—लोग
जिन्हे पर विधाता ने
मेरे लिए दिया नही
निजी एक अन्तरग चेहरा।

अनुपस्थित केवल वे
हेरते, अगोरते
लोचन दो
निहित निजीपन जिन मे
सब चेहरो का,
ठहरा।

वातायन
ससृति से मेरे राग बन्ध के।
लोचन दो—
सम्पृक्ति निविड की
स्फटिक विमल वापियाँ
अचंचल
जल
गहरा—गहरा—गहरा!

परायी राहें

दूर सागर पार
पराये देश की अनजानी राहें।
पर शीलवान् तरुओं की
गुरु, उदार,
पहचानी हुई छाँहें।
छनी हुई धूप की सुनहली कनी का बीन,
तिनके की लघु अनी मनके सी बीध, गूँथ, फेरती सुमिरनी,
पूछ बैठी
कहाँ, पर कहाँ वे ममतामयी बाहें ?

पलकों का कँपना

तुम्हारी पलकों का कँपना।
तनिक सा चमक खुलना, फिर झँपना।
तुम्हारी पलकों का कँपना।
मानो देखा तुम्हें लजीली किसी कली के
खिलने का सपना।
तुम्हारी पलकों का कँपना।
सपने की एक किरण मुझ को दो ना,
है मेरा इष्ट तुम्हारे उस सपने का कण होना।
और सब समय पराया है।
बस उतना क्षण अपना।
तुम्हारी पलकों का कँपना।

१ एक उदास साँझ

सूने गलियारो की उदासी।
गोखो मे पीली मन्द उजास
स्वय मूर्छा सी।
थकी हारी साँसे, बासी।

चिमटी से जकडी सी नभ की थिगली मे
तारो की बिसरी सुइया सी।
यादें अपने को टटोलती
सहमी, ठिठकी, प्यासी।

हा, कोई आ कर निश्चय दिया जलायेगा।
दिपता छिपता लुब्धक सूने मे कभी उभर आयेगा।
नगी काली डाली पर नीरव
धुँधला उजला पछी मँडरायेगा।
हा, सासो ही साँसो से रीत गया
अन्तर भी भर आयेगा।
पर वह जो बीत गया—जो नही रहा—
वह कैसे फिर आयेगा ?

अनुभव-परिपक्व

मा हम नही मानते—
अगली दीवाली पर मेले से
हम वह गाने वाला टीन का लट्टू
लेंगे ही लेंगे—
नही, हम नही जानते—
हम कुछ नही सुनेंगे ।

—कल गुडियों का मेला है, मा ।
मुझे एक दो पैसे वाली
कागज की फिरकी तो ल देना ।
अच्छा' मै लट्टू नही मागता—
तुम बस दो पैसे दे देना ।

—अच्छा, मा, मुझे खाली मिट्टी दे दो—
मैं कुछ नही मागूँगा
मेले जाने का हठ नही ठानूगा ।
जो कहोगी मानूगा ।

सूनी सी साँझ एक

सूनी सी साझ एक
दबे पांव मेरे कमरे मे आयी थी।
मुझ को भी वहा देख
थोडा सकुचायी थी।
तभी मेरे मन मे यह बात आयी थी
कि ठीक है, यह अच्छी है,
उदास है पर सच्ची है
इसी की सांवली छाह मे कुछ देर रहूँगा
इसी की सास की लहर पर बहूँगा।
चुपचाप इसी के नीरव तलुवो की
लाल छाप देखता
कुछ नही कहूँगा।

पर उस सलोनी के पीछे-पीछे
घुस आयी बिजली की बत्तिया
बेहया धड-धड गाडिया की
मानुपो की खडी-खडी बोलिया।
वह रुकी तो नही, आयी तो आ गयी,
पर साथ-साथ मुरझा गयी।
उस की पहले ही मद्धिम अरुणाली पर
घुटन की एक स्याही सी छा गयी।
—सोचा था कुछ नही कहूँगा
कुछ नही कहा
पर मेरे उस भाव का, सकल्प का
बस, इतना ही रहा।

यह नहीं वह न कहना था
जो कि उस को उदास पर सच्ची लुनाई में वहना था
जो अपने ही अपने न रहने को
तद्गत हो सहना था।
यह तो बस रुँध कर चुप रहना था।

यों न जाने कब कहाँ
वह साँझ
ओझल हो गयी।
और मेरे लिए यह
सूने न रहने को
रीते न होने की
बाझ अनुकम्पा समाज को
कितनी बोझल हो गयी।

एक प्रश्न

जिन आँखो को तुम ने गहरा बतलाया था
उन से भर-भर मैं ने
रूप तुम्हारा पिया।
जिस काया को तुम रहस्याय से भरी बताते थे
उस के रोम रोम से मैं ने
गान तुम्हारा किया।

जो प्यार—कहा था तुम ने ही—है सार-तत्त्व जीवन का,
वही अनामय, निर्विकार, चिर सत्त्व
मैं ने तुम्हें दिया।

यों
तुम से पायी ज्योति शिखा के शुभ वृत्त मे
मैं ने अपना
पल-पल जलता जीवन जिया
पर तुम ने—तुम, गुरु, सखा, देवता!—
तुम ने क्या किया!

अँधेरे अकेले घर मे

अँधेरे अकेले घर मे
अँधेरी अकेली रात।
तुम्ही से लुक-छिप कर
आज न जाने कितने दिन बाद
तुम से मेरी मुलाकात।
और इस अकेले सन्नाटे म
उठती है रह-रह कर
एक टीस सी अकस्मात्
कि कहने को तुम्हे इस
इतने घने अकेले मे
मेरे पास कुछ भी नही है बात।

क्यो नही पहले कभी मै इतना गूँगा हुआ ?
क्यो नही प्यार के सुध भूले क्षणो मे
मुझे इस-तीखे ज्ञान ने छुआ
कि खो देना तो देना नही होता—
भूल जाना और, उत्सग है और बात
कि जब तक वाणी हारी नही
और वह हार मै ने अपने मे पूरी स्वीकारी नही,
अपनी भावना, सवेदना भी वारी नही—
तब तक वह प्यार भी
निरा सस्कार है, सस्कारी नही।
हाय, कितनी झीनी ओट मे

झरते रहे आलोक के सोते अवदात—
और मुझे घेरे रहो
अँधेरे अकेले घर मे
अँधेरी अकेली रात।

चिड़िया ने ही कहा

मै ने कहा
कि 'चिड़िया'
मैं देखता रहा—
चिड़िया चिड़िया ही रही।
फिर फिर देखा
फिर फिर बोला,
'चिड़िया'।
चिड़िया चिड़िया ही रही।

फिर—जाने कब—
मैं ने देखा नही
भूल गया था मैं क्षण भर को तकना !—
मैं कुछ बोला नही—
खो गयी थी क्षण भर को स्तब्ध-चकित सी वाणी,
शब्द गये थे बिखर, फटी छीमी से जैसे
फट कर खो जाते हैं बीज
अनयना रवहीना धरती मे
होने को अंकुरित अजाने—
तब—जाने कब—
चिड़िया ने ही कहा
कि 'चिड़िया'।
चिड़िया ने ही देखा
वह चिड़िया थी।
चिड़िया

चिड़िया नहीं रही है तब से
मैं भी नहीं रहा मैं।
कवि हूँ।
कहना सब सुनना है, स्वर केवल सन्नाटा।

कहीं बड़े गहरे में
सभी स्वैर हैं नियम,
सभी सर्जन केवल
आँचल पसार कर लेना।

अन्तःसलिला

रेत का विस्तार
नदी जिस में खो गयी
कृश-धार
झरा मेरे आँसुओं का भार
—मेरा दुःख-धन,
मेरे समीप अगाध पारावार—
उस ने सोख सहसा लिया
जैसे लूट ले बटमार।
और फिर आक्षितिज
लहरीला मगर बेटूट
सूखी रेत का विस्तार—
नदी जिस में खो गयी
कृश-धार।

किन्तु जब जब जहाँ भी जिस ने कुरेदा
नमी पायी और खोदा—
हुआ रस-संचार
रिसता हुआ गड्ढा भर गया।
यों अजाना पान्थ
जो भी क्लान्त आया, रुका ले कर आस,
स्वल्पायास से हो शान्त
अपनी प्यास
इस से कर गया
खींच लम्बी साँस
पार उतर गया।

अरे अन्त सलिल है रेत
अनगिनत पैरों तले रौंदी हुई अविराम
फिर भी घाव अपने आप भरती,
पड़ी सज्जाहीन,
धूसर गौर,
निरीह और उदार !

साँस का पुतला

वासना को बाधने को
तूमडी जो स्वर तार बिछाती है—
आह ! उसी मे कैसी एकान्त निविड
वासना थरथराती है ।
तभी तो साँप की कुण्डली हिलती नहो—
फन डोलता है ।

कभी रात मुझे घेरती है,
कभी मैं दिन को टेरता हूँ,
कभी एक प्रभा मुझे हेरती है,
कभी मैं प्रकाश-कण बिखेरता हूँ ।
कैसे पहचानू कब प्राण स्वर मुखर है,
कब मन बोलता है ?

सास का पुतला हूँ मैं
जरा से बँधा हूँ और
मरण को दे दिया गया हूँ
पर एक जो प्यार है न, उसी के द्वारा
जीवन्मुक्त मैं किया गया हूँ ।
काल की दुवह गदा को एक
कौतुक भरा बाल क्षण तोलता है ।

চক্রান্ত শিলা

१

यह महाशून्य का शिविर,
असीम, छा रहा ऊपर
नीचे यह महामौन की सरिता
दिग्विहीन बहती है।

यह बीच-अधर, मन रहा टटोल
प्रतीकों की परिभाषा
आत्मा में जो अपने ही से
खुलती रहती है।

रूपों में एक अरूप सदा खिलता है,
गोचर में एक अगोचर, अप्रमेय,
अनुभव में एक अतीन्द्रिय,
पुरुषों के हर वैभव में ओझल
अपौरुषेय मिलता है।

मैं एक, शिविर का प्रहरी, भोर जगा
अपने को मौन नदी के खड़ा किनारे पाता हूँ
मैं, मौन मुखर, सब छन्दों में
उस एक अनिर्वच, छन्द मुक्त को
गाता हूँ।

२

वन मे एक झरना बहता है
एक नर-कोकिल गाता है
वृक्षो मे एक मर्मर
कोपलो को सिहराता है,
एक अदृश्य क्रम नीचे ही नीचे
झरे पत्तो को पचाता है।
अकुर उगाता है।

मैं सोते के साथ बहता हूँ,
पक्षो के साथ गाता हूँ,
वृक्षो के कोपलो के साथ थरथराता हूँ,
और उसी अदृश्य क्रम मे, भीतर ही भीतर
झरे पत्तो के साथ गलता और जीर्ण होता रहता हूँ
नये प्राण पाता हूँ।

पर सब से अधिक मैं
वन के सन्नाटे के साथ मौन हूँ—
क्योकि वही मुझे बतलाता है कि मैं कौन हूँ,
जोडता है मुझ को विराट् से
जो मौन, अपरिवर्त है, अपौरुषेय है
जो सब को समोता है।

मौन का ही सूत्र
किसी अर्थ को मिटाये बिना
सारे शब्द क्रमागत
सुमिरनी मे पिरोता है।

३

सुनता हूँ गान के स्वर।
बहुत से द्रुत, बाल-चपल, तार,
एक भव्य, मन्द्र गम्भीर, बलवती तान के स्वर।

मैं वन में हूँ।
सब ओर घना सन्नाटा छाया है।
तब क्वचित्
कहो मेरे भीतर हो यह कोई संगीत वृन्द आया है।
वन खण्डों की दिशा दिशा से
गूँज-गूँज कर आते हैं आह्वान के स्वर।
भीतर अपनी शिरा शिरा से
उठते हैं आह्लाद और सम्मान के स्वर।
पीछे, अध-डूबे, अवसान के स्वर।
फिर सब से नीचे, पीछे, भीतर, ऊपर,
एक सहस्र आलोक-विद्ध उन्मेष,
चिरन्तन प्राण के स्वर।

सुनता हूँ गान के स्वर
बहुत से द्रुत, बाल-चपल, तार,
एक भव्य, मन्द्र गम्भीर, बलवती तान के स्वर।

किरण जब मुझ पर झरी
मैं ने कहा।
मैं वज्र कठोर हूँ—
पत्थर सनातन।

किरण बोली :
भला ? ऐसा !
तुम्ही को तो खोजती थी मैं
तुम्ही से मन्दिर गढ़ूँगी
तुम्हारे अन्त:करण से
तेज की प्रतिमा उकेरूँगी।

स्तब्ध मुझ को
किरण ने
अनुराग से दुलरा लिया।

५

एक चिकना मौन
जिस में मुखर-तपती वासनाएँ
दाह खोती
लीन होती हैं।
उसी में रवहीन
तेरा
गूँजता है छन्द
ऋत विज्ञप्त होता है।

एक काले घोल की सी रात
जिस में रूप, प्रतिमा, मूर्तियाँ
सब पिघल जातीं
ओट पातीं
एक स्वप्नातीत, रूपातीत
पुनीत
गहरी नींद की।
उसी में से तू
बढ़ा कर हाथ
सहसा खींच लेता—
गले मिलता है।

रात मे जागा
अन्धकार की सिरकी के पीछे से
मुझे लगा मैं सहसा
सुन पाया सन्नाटे की कनबतियाँ
धीमी, रहस, सुरीली,
परम गीतिमय।

और गीत वह मुझ से बोला, दुर्निवार,
अरे, तुम अभी तक नही जागे,
और यह मुक्त स्रोत सा सभी ओर बह चला उजाला!
अरे, अभागे—
कितनी बार भरा, अनदेखे,
छलक छलक बह गया तुम्हारा प्याला?

मैं ने उठ कर खोल दिया वातायन—
और दुबारा चौंका
वह सन्नाटा नही—
झरोखे के बाहर
ईश्वर गाता था।
इसी बीच फिर
बाढ उषा की आयी।

७

हवा कहीं से उठी, वही—
ऊपर ही ऊपर चली गयी।
पथ सोया ही रहा
किनारे के क्षुप चौंके नहीं
न काँपी डाल, न पत्ती कोई दरकी।
अंग लगी लघु ओस-बूँद भी एक न ढरकी।

वन-खण्डों में सधे खड़े पर
अपनी ऊँचाई में खोये से
चीड़
जाग कर सिहर उठे
सनसना गये।
एकस्वर नाम वही अनजाना
साथ हवा के
गा गये।

ऊपर ही ऊपर
जो हवा ने गाया,
देवदारु ने दुहराया,
जो हिम चोटियों पर झलका,
जो साँझ के आकाश से छलका—
वह किस ने पाया
जिस ने आयत्त करने की आकांक्षा का हाथ बढ़ाया?

आह ! वह जो मेरे
दे दिये गये हृदय मे उतरा,
मेरे स्वीकारी आँसू मे ढलका
वह अनजाना अनपहचाना ही आया ।
वह इन सब के—और मेरे—माध्यम से
अपने मे अपने को लाया,
अपने मे समाया ।

८

जितनी स्फीति इयत्ता मेरी झलकाती है
उतना ही मैं प्रेत हूँ।
जितना रूपाकार-सारमय दीख रहा हूँ
रेत हूँ।

फोड़ फोड़ कर जितने को तेरी प्रतिमा
मेरे अनजाने, अनपहचाने
अपने ही मनमाने
अंकुर उपजाती है—
बस, उतना मैं खेत हूँ।

९

जो बहुत तरसा-तरसा कर
मेघ से बरसा
हमे हरसाता हुआ,
—माटी मे रीत गया।

आह! जो हमे सरसाता है
वह छिपा हुआ पानी है
हमारा इस जानो पहचानी
माटी के नीचे का।
—रीतता नही
बीतता नही।

१०

धुन्ध से ढँकी हुई
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी
कितनी लघु अजली हमारी ।

कुहरे मे जहाँ तहाँ लहराती सी कोई
छाया जब-तब दिख जाती है,
उत्कण्ठा की ओक वही द्रव भर ओठा तक लाती है—
बिजली की जलती रेखा सी
कण्ठ चीरती छाती तक खिच जाती है ।
फिर और प्यास तरसाती है,
फिर दीठ
धुन्ध मे फाक खोजने को टकटकी लगाती है ।
आतुरता हमे भुलाती है
कितनी लघु अजली हमारी,
कितनी गहरी यह धुन्ध ढँकी वापिका तुम्हारी

फिर भरते है ओक,
लहर का वृत्त फैल कर हो जाता है ओझल,
इसी भाति युग-कल्प शिलित कर गये हमारे पल पल
—वापी को जो धुन्ध ढँके है, छा लेती है
गिर गह्वर भी अविरल ।
किन्तु एक दिन खुल जायेगा
स्फटिक मुकुर सा निर्मल वापी का तल,
आशा का आग्रह हम किय है बेकल—
धुन्ध ढँकी
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी,
कितनी लघु अजली हमारी ।

किन्तु नही क्या यही धुन्ध है सदावर्त
जिस म नीरन्ध्र तुम्हारी करुणा

बँटती रहती है दिन याम ?
कभी झाँक जाने वाली छाया ही
अन्तिम भाषा सम्भव-नाम ?
करुणा धाम !
बीज मन्त्र यह, सार सूत्र यह, गहराई का एक यही परिमाण,
हमारा यही प्रणाम !

धुन्ध ढँकी
कितनी गहरी वापिका तुम्हारी—
लघु अंजली हमारी।

१२

अरी ओ आत्मा री,
कन्या भोली क्वारी
महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गयी।

अब से तेरा कर एक वही गह पायेगा—
सम्भ्रम-अवगुण्ठित अगो को
उस का ही मृदुतर कौतूहल
प्रकाश की किरण छुआयेगा।
तुझ से रहस्य की बात निभृत मे
एक वही कर पायेगा।
तू उतना, वैसा समझेगी वह जैसा जो समझायेगा।

तेरा वह प्राप्य, वरद कर उस का तुझ पर जो बरसायेगा।
उद्देश्य, उसे जो भावे, लक्ष्य, वही जिस ओर मोड दे वह—
तेरा पथ मुड मुड कर सीधा उस तक ही जायेगा।
तू अपनी भी उतनी ही होगी जितना वह अपनायेगा।
ओ आत्मा री
तू गयी वरी
महाशून्य के साथ भावरें तेरी रची गयी

हा, छूट चला यह घर, उपवन,
परिचित-परिगण, मे भी, आत्मीय सभी,
पर खेद न कर, हम थे इतने तक के अपने—
हम रचे हो गये थे यथार्थ आधे, आधे सपने—
आँखें भर कर ले फेर, और भर अजलि दे बिखेर
पीछे को फूल
—स्मरण के, श्रद्धा के, कृतज्ञता के, सत्र के—
हम नही पूछते, जो हो, बस, मत हो परिताप कभी।

जा आत्मा, जा
कन्या—वधुका—
उस की अनुगा,
वह महाशून्य ही अब तेरा पथ,
लक्ष्य, अन्न-जल, पालक, पति,
आलोक, धर्म
तुझ को वह एक मात्र सरसायेगा।

ओ आत्मा री
तू गयी वरी,
ओ सम्पृक्ता,
ओ परिणीता
महाशून्य के साथ भाँवरें तेरी रची गयीं।

१३

अकेली और अकेली ।
प्रियतम धीर, समुद सब सहने वाला,
मनचली सहेली ।

अकेला
वह तेजोमय है जहा,
दीठ बेबस झुक जाती है,
वाणी तो क्या, सन्नाटे तक की गूँज
वहा चुक जाती है ।
शीतलता उस की एक छुअन भर से
सारे रोमाच शिथिल कर देती है,
मन के द्रुत रथ की अविश्रान्त गति
कभी नही उस का पदनख तक परिक्रान्त कर पाती है ।
वह
इस लिए
अकेला ।

अकेली
जो कहना है, वह भाषा नही मागता ।
इस लिए किसी की साक्षी नही मागता,
जो सुनना है, वह जहाँ झरेगा तेज भस्म कर डालेगा—
तब कैसे कोई उसे झेलने के हित पर से साझा पालेगा ?
वह
इस लिए निरस्त्र, निवसन, निस्साधन, निरीह,
इस लिए
अकेली ।

१४

वह धीरे धीरे आया
सधे पैरो से चला गया।

किसी ने उस को छुआ नही।
उस असग को अटकाने को
कोई कर न उठा।

उस की आंखें रही देखती सब कुछ
सब कुछ को वात्सल्य भाव से सहलाती, असीसती,
पर ऐसे, कि अयाना है सब कुछ, शिशुवत् अबोध।
अटकी नही दीठ वह,
जैसे तृण-तरु को छूती प्रभात की धूप
दीठ भी आगे चली गयी।

आगे, दूर, पार, आगे को,
जहा और भी एक असग सधा बैठा है,
जिस की दीठ देखती सब कुछ,
सब कुछ को सहलाती, दुलराती, असीसती,
—उस को भी, शिशुवत् अबोध को मानो—
किन्तु अटकती नही, चली जाती है आगे।

आगे ?
हां, आगे, पर
उस से आगे सब आयाम
घूम घूम जाते हैं चक्राकार,
उसी तक लौट
समाहित हो जाते है।

१५

जो कुछ सुन्दर था, प्रेय, काम्य,
जो अच्छा, मँजा-नया था, सत्य मार,
मै बीन-बीन कर लाया।
नैवेद्य चढाया।
पर यह क्या हुआ ?
सब पडा-पडा कुम्हलाया, सूख गया, मुरझाया
कुछ भी तो उस ने हाथ बढा कर नही लिया।

गोपन लज्जा मे लिपटा, सहमा स्वर भीतर से आया
यह सब मन ने किया,
हृदय ने कुछ नही दिया,
थाती का नही, अपना हो जिया।
इस लिए आत्मा ने कुछ नही छुआ।

केवल जो अस्पृश्य, गर्ह्य कह
तज आयी मेरे अस्तित्व मात्र की सत्ता,
जिस के भय से त्रस्त, ओढती काली घृणा इयत्ता,
उतना ही, वही हलाहल उस ने लिया।
और मुझ को वात्सल्य भरा आशिष दे कर !—
ओक भर पिया।

१६

मैं कवि हूँ
द्रष्टा, उन्मेष्टा,
सन्धाता,
अर्थवाह,
मैं कृतव्यय ।

मैं सच लिखता हूँ
लिख-लिख कर सब
झूठा करता जाता हूँ ।

तू काव्य
सदा वेष्टित यथाथ
चिर तनित,
भारहीन, गुरु,
अव्यय ।

तू छलता है
पर हर छल मे
तू और विशद, अभ्रान्त,
अनूठा होता जाता है ।

१७

न कुछ मे से वृत्त यह निकला कि जो फिर
शून्य मे जा विलय होगा
किन्तु वह जिस शून्य को बाधे हुए है—
उस मे एक रूपातीत ठण्डी ज्योति है ।

तब फिर शून्य कैसे है—कहाँ है ?
मुझे फिर आतक किस का है ?

शून्य को भजता हुआ भी मैं
पराजय को बरजता हूँ ।
चेतना मेरी बिना जाने
प्रभा मे निमजती है
मैं स्वय
उस ज्योति से अभिषिक्त
सजता हूँ ।

१८

अन्धकार मे चली गयी है
काली रेखा
दूर दूर पार तक।

इसी लीक को थामे मैं
बढ़ता आया हूँ
बार-बार द्वार तक

ठिठक गया हूँ वहाँ
खोज यह दे सकती है मार तक।

चलने की है यही प्रतिज्ञा
पहुँच सकूँगा मैं
प्रकाश के पारावार तक,

क्यों चलना यदि पथ है केवल
मेरे अन्धकार से
सब के अन्धकार तक?

—या कि लाघ कर ही उस को
पहुँचा जावेगा
सब कुछ धारण करने वाली पारमिता करुणा तक—
निर्वैयक्तिक प्यार तक?

न कुछ मे से वृत्त यह निकला कि जो फिर
शून्य मे जा विलय होगा
किन्तु वह जिस शून्य को बाधे हुए है—
उस मे एक रूपातीत ठण्डी ज्योति है।

तब फिर शून्य कैसे है—कहा है ?
मुझे फिर आतक किस का है ?

शून्य को भजता हुआ भी मैं
पराजय को वरजता हूँ।
चेतना मेरी बिना जाने
प्रभा मे निमजती है
मैं स्वय
उस ज्योति से अभिषिक्त
सजता हूँ।

१८

अन्धकार मे चली गयी है
काली रेखा
दूर-दूर पार तक।

इसी लीक को थामे मैं
बढ़ता आया हूँ
बार-बार द्वार तक

ठिठक गया हूँ वहाँ
खोज यह दे सकती है मार तक।

चलने को है यही प्रतिज्ञा
पहुँच सकूँगा मैं
प्रकाश के पारावार तक,

क्यो चलना यदि पथ है केवल
मेरे अन्धकार से
सब के अन्धकार तक ?

—या कि लाँघ कर ही उस को
पहुँचा जावेगा
सब कुछ धारण करने वाली पारमिता करुणा तक—
निर्वैयक्तिक प्यार तक ?

१९

उस बीहड़ काली एक शिला पर बैठा दत्तचित्त—
वह काक चोंच से लिखता ही जाता है अविश्राम
पल-छिन, दिन-युग, भय त्रास, व्याधि-ज्वर,
जरा मृत्यु,
बनने मिटने के कल्प, मिलन बिछुडन,
गति निर्गति विलय के
अन्तहीन चक्रान्त।

इस धवल शिला पर यह आलोक-स्नात,
उजला ईश्वर-योगी, अक्लान्त शान्त,
अपनी स्थिर, धीर, मन्द स्मिति से वह सारी लिखत
मिटाता जाता है

योगी।
वह स्मिति मेरे भीतर लिख दे
मिट जाय सभी जो मिटता है।
वह अलम् होगी।

२० •

ढूह की ओट बैठे
बूढे से मैं ने कहा
मुझे मोती चाहिए

उस ने इशारा किया।
पानी में कूदो।
मैं ने कहा मोती मिलेगा ही, इस का भरोसा क्या ?
उस ने एक मूँठ बालू उठा मेरी ओर कर दी।
मैं ने कहा इस में से मिलेगा मुझे मोती ?
उस ने एक ककड उठाया और
अनमने भाव से मुझे दे मारा।

मैं ने बडा जतन दिखाते हुए उसे बीन लिया
और कहा यही क्या मोती है—
आप का ?

धीरे धीरे झुका माथा ऊँचा हुआ,
मुडा वह मेरी ओर।
सागर सी उस की आँखें थी
सदियों की रेती पर
इतिहास की हवाओं की लिखता सी
नैन-कोरो की झुर्रियाँ।
बोला वह
(फँसी एक सोयी हुई हवा उन
बालुओं के टहा में से, घासों में से
सर्पिल सी फिसली चली गयी)
'हाँ

या कि नहीं क्यों ?
मिट्टी के भीतर
पत्थर था
पत्थर के भीतर
पानी था
पानी के भीतर
मेढक था
मेढक के भीतर

अस्थियाँ थीं यानी मिट्टी-पत्थर था,
लहू की धार थी यानी पानी था,
श्वास था यानी हवा थी,
जीव था—यानी मेढक था।

मोती जो चाहते हो
उस की पहचान अगर यह नहीं
तो और क्या है ?

यही, हां, यही—
कि और कोई बची नहीं रही
उस मेरी मधु मद-भरी
रात की निशानी
एक यह ठीकरे हुआ प्याला
कहता है—
जिसे चाहो तो मान लो कहानी ।

और दे भी क्या सकता हूँ हवाला
उस रात का
या प्रमाण अपनी बात का ?
उस धूममुक्त कम्पहीन
अपने ही ज्वलन के हुताशन के
ताप शुभ्र केन्द्र-वृत्त में
उस युग-साक्षात् का ?

यों कहो तो था लेखा
पर मैं ने जो दिया, जो पाया,
जो पिया, जो गिराया,
जो ढाला, जो छलकाया,
जो निथारा, जो छाना,
जो उतारा, जो चढाया,
जो जोड़ा, जो तोड़ा, जो छोड़ा—
सब का जो कुछ हिसाब रहा, मैं ने देखा
कि उसी यज्ञ-ज्वाला में गिर गया ।
और उसी क्षण मुझे लगा कि अरे, मैं तिर गया
—ठीक है, मेरा सिर फिर गया ।

मैं अवाक् हूँ, अपलक हूँ।
मेरे पास और कुछ नहीं है
तुम भी यदि चाहो
तो ठुकरा दो
जानता हूँ कि मैं भी तो ठीकरा हूँ।
और मुझे कहने को क्या हो
जब अपने तईं खरा हूँ ?

२२

ओ मूर्ति !
वासनाओ के विलय,
अदम आकाक्षा के विश्राम ।
वस्तु-तत्त्व के बन्धन से छुटकारे के
ओ शिखाभूत सकेत,
ओ आत्म साक्ष्य के मुकुर,
प्रतीकों के निहितार्थ !
सत्ता-करुणा, युगनद्ध !
ओ मन्त्रो के शक्ति-स्रोत,
साधना के फल के उत्सग
ओ उद्गतियो के आयाम !

ओ निश्छाय, अरूप,
अप्रतिम प्रतिमा,
ओ नि श्रेयस्
स्वयसिद्ध !

२३

व्यथा सब की,
निविडतम एकान्त
मेरा ।

कलुष सब का
स्वेच्छया आहूत,
सद्य धौत अन्त पूत
बलि मेरी ।

ध्वान्त इस अनसुलझ संसृति के
सकल दौर्बल्य का,
शक्ति तेरे तीक्ष्णतम, निर्मम, अमोघ
प्रकाश सायक की !

उसी एकान्त मे घर दो
जहा पर सभी आवें
वही एकान्त सच्चा है
जिसे सब छू सकें।
मुझ को यही वर दो
उसी एकान्त मे घर दो
कि जिस मे सभी आवें—
—मैं न आऊँ।
नही मै छू भी सकूँ जिस को
मुझे ही जो छुए, घेरे समो ले।
क्योकि जो मुझ से छुआ जा सका—
मेरे स्पर्श से चटका—
न ही है आसरा, वह छत्र कच्चा है
यही एकान्त सच्चा है
जिसे छूने मैं चलूँ तो मैं पलट कर टूट आऊँ।
लौट कर फिर वही आऊँ
किन्तु पाऊँ
जो उसे छू रहा है वह मैं नही हूँ
सभी हैं वे। सभी वह भी जो कि इस का बोध
मुझ तक ला सका।
उसी एकान्त मे घर दो—
यही वर दो।

२५

सागर और धरा मिलते थे जहा
सन्धि-रेखा पर
मैं वैठा था ।

नही जानता
क्यो सागर था मौन।
क्यो धरा मुखर थो।

सन्धि रेख पर वैठा मै अनमना
देखता था सागर को
किन्तु धरा को सुनता था।
सागर की लहरो मे जो कुछ पढता था
रेती की लहरो पर लिखता जाता था।

नही जानता
क्यो
मैं बठा था ।

पर वह सब तब था
जब दिन था।
फिर जब
धरती से उठा हुआ सूरज
तपते-तपते हो जीर्ण
गिरा सागर मे—
तब सन्ध्या की तीखी किरण एक
उठ

मुझे विद्ध करती सायक सी
उसी सन्धि रेखा से बाँध
अचानक डूब गयी।
फिर धीरे धीरे
रात घेरती आयी, फैल गयी
फिर अन्धकार मे
मौन हो गयी धरा,
मुखर हो सागर गाने लगा गान।

मुझे और कुछ लखने-सुनने
पढने लिखने को नही रहा
अपने भीतर
गहरे मे मै ने पहचान लिया
है यही ठीक। सागर ही गाता रहे,
धरा हो मौन,
यही सम्यक् स्थिति है।

यद्यपि क्यो
मै नही जानता।

फिर मैं सपने से जाग गया

हाँ, जाग गया।
पर क्या यह जगा हुआ मैं
अब से युग-युग
उसी सन्धि रेखा पर वैसा
किरण विद्ध हो बँधा रहूँगा ?

२६

आँगन के पार
द्वार खुले
द्वार के पार आगन।
भवन के ओर छोर
सभी मिले—
उन्ही मे कही खो गया भवन।

कौन द्वारी
कौन आगारी, न जाने,
पर द्वार के प्रतिहारी को
भीतर के देवता ने
किया बार बार पा लागन।

२७

दूज का चाँद—

मेरे छोटे घर-कुटीर का दिया
तुम्हारे मन्दिर के विस्तृत आगन मे
सहमा सा रख दिया गया।

असाध्य वीणा

असाध्य वीणा

आ गये प्रियंवद ! केशकम्बली ! गुफा-गेह !
राजा ने आसन दिया। कहा
"कृतकृत्य हुआ मैं तात ! पधारे आप।
भरोसा है अब मुझ को
साध आज मेरे जीवन की पूरी होगी !"

लघु संकेत समझ राजा का
गण दौड़े। लाये असाध्य वीणा,
साधक के आगे रख उस को, हट गये।
सभा की उत्सुक आँखें
एक बार वीणा को लख, टिक गयीं
प्रियंवद के चेहरे पर।

"यह वीणा उत्तराखण्ड के गिरि-प्रान्तर से
—घने वनों में जहाँ तपस्या करते हैं व्रतचारी—
बहुत समय पहले आयी थी।
पूरा तो इतिहास न जान सके हम
किन्तु सुना है
वज्रकीर्ति ने मन्त्रपूत जिस
अति प्राचीन किरीटी-तरु से इसे गढ़ा था—
उस के कानों में हिम-शिखर रहस्य कहा करते थे अपने,
कन्धों पर बादल सोते थे,
उस की करि-शुण्डों सी डालें

कम्बल पर अभिमन्त्रित एक अकेलेपन में डूब गया था
जिस में साक्षी के आगे था
जीवित वही किरीटी-तरु
जिस की जड़ वासुकि के फण पर थी आधारित,
जिस के कन्धों पर बादल सोते थे
और कान में जिस के हिमगिरि कहते थे अपने रहस्य।
सम्बोधित कर उस तरु को, करता था
नीरव एकालाप प्रियंवद।

"ओ विशाल तरु!
शत-सहस्र पल्लवन-पतझरों ने जिस का नित रूप सँवारा,
कितनी बरसातों कितने खद्योतों ने आरती उतारी,
दिन भौंरे कर गये गुंजरित,
रातों में झिल्ली ने
अनथक मंगल-गान सुनाये,
साँझ-सवेरे अनगिन
अनचीन्हे खग-कुल की मोद भरी क्रीड़ा-काकलि
डाली-डाली को कँपा गयी—
ओ दीर्घकाय!
ओ पूरे झारखण्ड के अग्रज,
तात, सखा, गुरु, आश्रय,
त्राता महच्छाय,
ओ व्याकुल मुखरित वन ध्वनियों के
वृन्दगान के मूर्त रूप,
मैं तुझे सुनूँ,
देखूँ, ध्याऊँ
अनिमिष, स्तब्ध, संयत, संयुत, निर्वाक्
कहाँ साहस पाऊँ
छू सकूँ तुझे!
तेरी काया को छेद, बाँध कर रची गयी वीणा को

किस स्पर्धा से
हाथ करें आघात
छीनने को तारो से
एक चोट मे वह् सचित सगीत जिसे रचने मे
स्वय न जाने कितनो के स्पन्दित प्राण रच गये !

"नही, नही ! वीणा यह् मेरी गोद रखी है, रहे,
किन्तु मैं ही तो
तेरी गोदी बैठा मोद भरा बालक हूँ,
ओ तरु तात ! सँभाल मुझे,
मेरी हर किलक
पुलक मे डूब जाय
मैं सुनूँ,
गुनूँ,
विस्मय से भर आँकूँ
तेरे अनुभव का एक-एक अन्त स्वर
तेरे दोलन की लोरी पर झूमूँ मैं तन्मय—
गा तू
तेरी लय पर मेरी साँसें
भरें, पुरें, रीतें, विश्रान्ति पायें।

"गा तू !
यह् वीणा रखी है तेरा अग—अपंग !
किन्तु अगी, तू अक्षत, आत्म-भरित,
रस विद्,
तू गा
मेरे अँधियारे अन्तस् मे आलोक जगा
स्मृति का
श्रुति का—

तू गा, तू गा, तू गा, तू गा!

"हाँ मुझे स्मरण है •
बदली—कौंध—पत्तियों पर वर्षा-बूँदों की पटपट।
घनी रात में महुए का चुपचाप टपकना।
चौंके खग शावक की चिहुँक।
शिलाओं को दुलराते वन झरने के
द्रुत लहरीले जल का कल निदान।
कुहरे में छन कर आती
पर्वती गाँव के उत्सव-ढोलक की थाप।
गड़रिये की अनमनी बाँसुरी।
कठफोड़े का ठेका। फुलसुँघनी की आतुर फुरकन •
ओस-बूँद की ढरकन—इतनी कोमल, तरल, कि झरते-झरते मानो
हरसिंगार का फूल बन गयी।
भरे शरद् के ताल, लहरियों की सरसर-ध्वनि।
कूँजों का क्रेंकार। काँद लम्बी टिट्टिभ की।
पंख-युक्त सायक सी हंस-बलाका।
चीड़-वनों में गन्ध अन्ध उन्मद पतंग की जहाँ तहाँ टकराहट
जल प्रपात का प्लुत एकस्वर।
झिल्ली दादुर, कोकिल चातक की झंकार पुकारों की यति में
संसृति की साँय-साँय।

"हाँ, मुझे स्मरण है
दूर पहाड़ों से काले मेघों की बाढ़
हाथियों का मानो चिंघाड़ रहा हो यूथ।
घरघराहट चढ़ती बहिया की।
रेतीले कगार का गिरना छप्-छड़ाप।
झंझा की फुफकार, तप्त,
पेड़ों का अररा कर टूट-टूट कर गिरना।

ओले की करीं चपत।
जमे पाले से तनी कटारी सी सूखी घासो की टूटन।
ऍंठी मिट्टी का स्निग्ध घाम मे धीरे धीरे रिसना।
हिम-तुषार के फाहे धरती के घावो को सहलाते चुप-चाप।
घाटियो मे भरती
गिरती चट्टानो की गूँज—
कापती मन्द्र गूँज—अनुगूँज—सास खोयी सी,
धीरे-धीरे नीरव।

"मुझे स्मरण है
हरी तलहटी मे, छोटे पेडो की ओट ताल पर
बँधे समय वन पशुओ की नानाविध आतुर तृप्त पुकारें
गर्जन, घुघुर, चीख, भूँक, हुक्का, चिचियाहट।
कमल कुमुद पत्रो पर चोर-पैर द्रुत धावित
जल पछी की चाप।
थाप दादुर की चकित छलांगो की।
पन्थी के घोडे की टाप अधीर।
अचचल धीर थाप भैंसो के भारी खुर की।

"मुझे स्मरण है
उझक क्षितिज से
किरण भोर की पहली
जब तकती है ओस-बूँद को
उस क्षण की सहसा चौंकी सी सिहरन।
और दुपहरी मे जब
घास फूल अनदेखे खिल जाते हैं
मौमाखियां असख्य झूमती करती हैं गुजार—
उस लम्बे विलमे क्षण का तन्द्रालस ठहराव।
और साझ को
जब तारो की तरल कँपकँपी

स्पर्शहीन झरती है—
मानो नभ म तरल नयन ठिठकी
नि सत्य सवत्सा युवती माताओ के आशीर्वाद—
उस सन्धि निमिष की पुलकन लीयमान ।

"मुझे स्मरण है
और चित्र प्रत्येक
स्तब्ध, विजडित करता है मुझ को ।
सुनता हूँ मैं
पर हर स्वर कम्पन लेता है मुझ को मुझ से सोख—
वायु सा नाद भरा मैं उड जाता हूँ ।
मुझे स्मरण है—
पर मुझ को मैं भूल गया हूँ
सुनता हूँ मैं—
पर मैं मुझ से परे, शब्द म लीयमान ।

"मैं नही, नही । मैं कही नही ।
ओ रे तरु । ओ वन ।
ओ स्वर-सँभार ।
नाद मय ससृति ।
ओ रस-प्लावन ।
मुझे क्षमा कर—भूल अकिंचनता को मेरी—
मुझे ओट दे—ढँक ले—छा ले—
ओ शरण्य ।
मेरे गूँगेपन को तेरे सोये स्वर-सागर का ज्वार डुवा ले ।
आ, मुझे भुला,
तू उतर वीन के तारो मे
अपने से गा
अपने को गा—
अपने खग-कुल को मुखरित कर

अपनी छाया मे पले मृगो की चौकडियो को ताल बाँध,
अपने छायातप, वृष्टि-पवन, पल्लव-कुसुमन की लय पर
अपने जीवन-सचय को कर छन्दयुक्त,
अपनी प्रज्ञा को वाणी दे।
तू गा, तू गा—
तू सन्निधि पा—तू खो
तू आ—तू हो—तू गा। तू गा।"
राजा जागे।
समाधिस्थ सगीतकार का हाथ उठा था—
काँपी थी उँगलिया।
अलस अँगडाई ले कर मानो जाग उठी थी वीणा '
किलक उठे थे स्वर-शिशु।
नीरव पद रखता जालिक मायावी
सधे करो से धीरे धीरे धीरे
डाल रहा था जाल हेम-तारो का।

सहसा वीणा झनझना उठी—
सगीतकार की आँखो मे ठण्डी पिघली ज्वाला सी झलक गयी—
रोमाच एक बिजली सा सब के तन मे दौड गया।
अवतरित्त हुआ सगीत
स्वयम्भू
जिस मे सोता है अखण्ड
ब्रह्मा का मौन
अशेष प्रभामय।

डूब गये सब एक साथ।
सब अलग-अलग एकाकी पार तिरे।

राजा ने अलग सुना

"जय देवी यश काय
वरमाल लिये
गाती थी मगल-गीत,
दुन्दुभी दूर कही बजती थी,
राज मुकुट सहसा हलका हो आया था, मानो हो फूल सिरिस का
ईर्ष्या, महदाकाक्षा, द्वेष, चाटुता
सभी पुराने लुगडे से झर गये, निखर आया था जीवन-काचन
धर्म भाव से जिसे निछावर वह कर देगा।

रानी ने अलग सुना
छँटती बदली मे एक कौंध कह गयी—
तुम्हारे ये मणि माणिक, कण्ठहार, पट-वस्त्र,
मेखला किंकिणि—
सब अन्धकार के कण हैं ये ! आलोक एक है
प्यार अनन्य ! उसी की
विद्युल्लता घेरती रहती है रस भार मेघ को,
थिरक उसी की छाती पर उस मे छिप कर सो जाती है
आश्वस्त, सहज विश्वास-भरी।
रानी
उस एक प्यार को साधेगी।

सब ने भी अलग-अलग सगीत सुना।
इस को
वह कृपा-वाक्य था प्रभुओ का—
उस को
आतक मुक्ति का आश्वासन :
इस को
वह भरी तिजोरी मे सोने की खनक—
उसे

बटुली मे बहुत दिनो के बाद अन्न को सोंधी खुशबू।
किसी एक को नयी वधू की सहमी सी पायल ध्वनि।
किसी दूसरे को शिशु की किलकारी।
एक किसी को जाल-फँसी मछली की तड़पन—
एक अपर को चहक मुक्त नभ में उड़ती चिड़िया की।
एक तीसरे को मण्डी की ठेलमठेल, गाहकों की आस्पर्धा भरी
बोलिया,
चौथे को मन्दिर की ताल-युक्त घण्टा-ध्वनि।
और पाचवें को लोहे पर सधे हथौड़े की सम चोटें
और छठे को लंगर पर कसमसा रही नौका पर लहरों की
अविराम थपक।
बटिया पर चमरौधे की रुँधी चाप सातवें के लिए—
और आठवें को कुलिया की कटी मेड़ से बहते जल की छुल-छुल।
इसे गमक नट्टिन की एड़ी के घुँघरू की—
उसे युद्ध का ढोल
इसे सझा-गोधूली की लघु टुन-टुन—
उसे प्रलय का डमरू नाद।
इस को जीवन की पहली अँगड़ाई
पर उस को महाजृम्भ विकराल काल!
सब डूबे, तिरे, छिपे, जागे—
हो रहे वशंवद, स्तब्ध
इयत्ता सब की अलग-अलग जागी,
संधीत हुई,
पा गयी विलय।

वीणा फिर मूक हो गयी।

साधु! साधु!!"

राजा सिंहासन से उतरे—
"रानी ने अर्पित की सतलड़ी माल,

हे स्वरजित् ! धन्य ! धन्य !''

सगीतकार
वीणा को धीरे से नीचे रख, ढँक—मानो
गोदी मे सोये शिशु को पालने डाल कर मुग्धा मा
हट जाय, दीठ से दुलराती—
उठ खड़ा हुआ।
बढ़ते राजा का हाथ उठा करता आवर्जन,
बोला
"श्रेय नही कुछ मेरा
मैं तो डूब गया था स्वय शून्य मे—
वीणा के माध्यम से अपने को मैं ने
सब कुछ को सौंप दिया था—
सुना आप ने जो वह मेरा नही,
न वीणा का था
वह तो सब कुछ की तथता थी
महाशून्य
वह महामौन
अविभाज्य, अनाप्त, अद्रवित, अप्रमेय
जो शब्दहीन
सब मे गाता है।''

नमस्कार कर मुड़ा प्रियवद केशकम्बली। ले कर कम्बल
गेह-गुफा को चला गया।
उठ गयी सभा। सब अपने-अपने काम लगे।
युग पलट गया।

प्रिय पाठक ! यों मेरी वाणी भी
मौन हुई।

प्रथम पंक्तियों की सूची

यदि 'चक्रान्त शिला' की पन्द्रह कविताओं में मौन के माध्यम से विराट से जुड़ने की प्रक्रिया है और वात्सल्यभाव से सहलाती एक दीठ है, तो उस के बाद वाली कविताओं में परिपक्व और परिष्कृत चित्त का विनय और अर्पण का उत्कर्ष भी।

इस संग्रह तक आते-आते अज्ञेय का काव्य विस्तार और गहराई के ऐसे उत्कर्ष पर पहुँचा है, जिस में भारतीय चिन्तन-परम्परा की विश्व से संयोजन की क्षमता साकार हो उठी है। इस दृष्टि से यह संग्रह हिन्दी काव्य की अद्वितीय उपलब्धि है। इस ने यह सिद्ध कर दिया है कि अज्ञेय प्रश्न छेड़ने में ही नहीं उत्तर पाने में भी कुशल है, यह ज़रूर है कि ये उत्तर उन्होंने बाहर से नहीं भीतर से पाये हैं। संक्षेप में, 'आँगन के पार द्वार' नयी कविता की ही नहीं, आधुनिक हिन्दी कविता की अत्यन्त प्रांजल और प्रौढ़ उपलब्धि है।

प्रस्तुत है यह तीसरा संस्करण।